

नियमसार, २३६ कलश ।

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥२३६॥

[श्लोकार्थः] अति अपूर्व निजात्मजनित भावना से... आहाहा ! मोक्ष का कारण यह । अति अपूर्व... पूर्व में नहीं किया हुआ, ऐसा निजात्मजनित... अपना जो आत्मा आनन्द और ज्ञान, ऐसा जो निज आत्मा, उससे उत्पन्न हुई भावना । आहाहा ! अति अपूर्व

निजात्मजनित भावना से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिये...आनन्द के लिये। अतीन्द्रिय आनन्द के लिये जो यति यत्न करते हैं,... आहाहा! निजात्मजनित सुख के लिये जो यति यत्न करते हैं, यह यत्न। यह यत्न। स्वरूप का यत्न अतीन्द्रिय आनन्द का यत्न, प्रयत्न जो करते हैं, वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं। आहाहा! वे ही वास्तव में केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। आहाहा! इसमें व्यवहार-प्यवहार कहाँ गया? निमित्त और व्यवहार... आहाहा!

अति अपूर्व... अनन्त काल में नहीं किया हुआ। अनन्त.... अनन्त... अनन्त काल जो अज्ञानभाव में गया। वह नहीं की हुई अति अपूर्व निजात्मजनित भावना... अपने आत्मा से उत्पन्न हुई भावना। भावना की व्याख्या यह। निज आत्मा से उत्पन्न हुई भावना। राग और विकल्प की भावना नहीं। आहाहा! उससे उत्पन्न हुआ सुख। उससे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रिय आनन्द। उसका जो यति-मुनि-यत्न करते हैं। जो मुनि वह यत्न करते हैं। आहाहा! यह मुनि की दशा! अभी तो कुछ का कुछ बाहर से खतोनी करते हैं।

अन्तर के आनन्द के सुख के लिये जिसकी भावना अन्दर है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ है, उसमें जिसका यत्न है, वह जीवन्मुक्त है। वह पूर्ण पद को प्राप्त होने योग्य है। यह अस्ति की। दूसरे नहीं। ऐसी दशा के बिना दूसरे नहीं। आहाहा! यह अनेकान्त किया। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धन है; उसमें से उत्पन्न हुई भावना। आहाहा! अन्तर स्वरूप जो त्रिकाली भाव है, उसके अवलम्बन से उत्पन्न हुई भावना। आहाहा! उससे उत्पन्न होनेवाला सुख। उस भावना से उत्पन्न होनेवाला आनन्द। ये यति, जो आनन्द में यत्न करते हैं। आहाहा! श्लोक तो बहुत छोटा दो लाईन का है।

वे वास्तव में जीवन्मुक्त होते हैं,... उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है। आहाहा! दूसरे नहीं। व्यवहार क्रिया करनेवालों और निमित्त का आधार लेकर रहनेवालों को धर्म नहीं होता, उन्हें मुक्ति नहीं मिलती। आहाहा! धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसकी जो भावना, उससे उत्पन्न हुई—उस भावना से... आहाहा! उत्पन्न होनेवाला सुख। अतीन्द्रिय आनन्द का उत्पन्न होनेवाला सुख; उसके लिये जो यत्न करते हैं, वे यति और मुनि कहलाते हैं। आहाहा! वे वास्तव में मुक्ति को प्राप्त करेंगे। बहुत संक्षिप्त किया। आत्मजनित भावना से

उत्पन्न हुआ सुख, उस आनन्द में यत्न करते हैं... आहाहा! वे मुक्ति को प्राप्त करेंगे; दूसरे नहीं। आहाहा! अब इसमें व्यवहार का निषेध नहीं आया? पण्डितजी! व्यवहार का निषेध आया? व्यवहार से नहीं प्राप्त करते। आहाहा! यह २३६ (श्लोक पूरा) हुआ। आहाहा!

श्लोक-२३७

(वसंततिलका)

अद्वन्द्व-निष्ठ-मनघं परमात्म-तत्त्वं,
सम्भावयामि तदहं पुन-रेक-मेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः,
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-
विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ।

(वीरछन्द)

जो परमात्म तत्त्व रागादिक द्वन्दों में उपलब्ध नहीं।
पुनः पुनः मैं करूँ भावना केवल एक अनघ उसकी ॥
मात्र मुक्ति की मुझे कामना भव सुख के प्रति मैं निष्काम।
मुझे लोक के अन्य पदार्थ समूहों से फिर है क्या काम ॥२३७॥

[श्लोकार्थः] जो परमात्मतत्त्व (राग-द्वेषादि) द्वंद्व में स्थित नहीं है और अनघ (निर्दोष, मल रहित) है, उस केवल एक की मैं पुनः पुनः सम्भावना (सम्यक् भावना) करता हूँ। मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है? ॥२३७॥

इस प्रकार, सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में) परमभक्त्यधिकार नाम का दसवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

श्लोक - २३७ पर प्रवचन

अद्वन्द्व-निष्ठ-मनघं परमात्म-तत्त्वं,
सम्भावयामि तदहं पुन-रेक-मेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः,
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

श्लोकार्थ : आहाहा ! जो परमात्मतत्त्व... यह जो परमात्मा-परमस्वरूप जो भगवान् आत्मा, वह परमात्मतत्त्व (राग-द्वेषादि) द्वंद्व में स्थित नहीं है... आहाहा ! आत्मा का जो परमात्मस्वरूप है, उसे ही आत्मा कहते हैं और उस आत्मा में राग-द्वेष का द्वन्द्व नहीं है । आहाहा ! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम का द्वन्द्व उसमें नहीं है । आहाहा ! अनघ (निर्दोष, मल रहित) है,... द्वन्द्व नहीं है और निर्दोष है । अस्ति-नास्ति की है । राग-द्वेष का द्वन्द्व-द्वैतपना नहीं है और अनघ है । अनघ—दोषरहित है । भगवान् आत्मा अन्दर निर्दोष है, दोषरहित है । आहाहा ! उस केवल एक की मैं... आहाहा ! द्वन्द्व—राग-द्वेषरहित और निर्दोष भगवान् आत्मा त्रिकाली; उसकी ही मैं, केवल एक की ही मैं पुनः पुनः सम्भावना (सम्यक् भावना) करता हूँ । आहाहा ! बारम्बार उसकी—आनन्द की भावना करता हूँ । सच्चिदानन्द प्रभु को पकड़कर बारम्बार आनन्द का अनुभव करता हूँ । आहाहा !

मुक्ति की स्पृहावाले... कहते हैं कि मैं कौन हूँ ? मुक्ति की स्पृहा । एक मुक्ति की ही इच्छा है । दूसरी किसी प्रकार की वृत्ति नहीं है । **मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह...** भव के सुख के प्रति स्पृहा बिना । भव के सुख की वृत्ति जरा भी नहीं है और पूर्ण आनन्द, आत्मा की प्राप्ति की तत्परता । आहाहा ! पूर्णानन्द ऐसा आत्मा, उसकी तत्परता । भव के सुख की जरा भी स्पृहा नहीं कि भाई यहाँ से इसमें पुण्य करूँगा तो सुख मिलेगा और सर्वार्थसिद्धि जाया जायेगा । देव का (वैभव मिलेगा) । (ऐसी) कुछ स्पृहा नहीं है । आहाहा !

मुक्ति की स्पृहावाले तथा भवसुख के प्रति निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है ? आहाहा ! इस जगत में मेरे प्रभु के अतिरिक्त मुझे अन्य पदार्थ से क्या काम है ? आहाहा ! मुझे पंच परमेष्ठी से भी क्या काम है ? ऐसा कहते

हैं। क्योंकि पंच परमेष्ठी के ऊपर नजर जायेगी तो राग होगा। आहाहा! अन्य पदार्थ समूह। अन्य पदार्थों का समूह। आहाहा! अनेक अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। आहाहा! जिनके समूह-ढेर है। उनसे मुझे क्या प्रयोजन है? आहाहा! मेरा भगवान पूर्ण भरपूर है। उससे उत्पन्न हुए आनन्द का यत्न करनेवाला, उसकी स्पृहा करनेवाला; संसार के सुख की स्पृहा छोड़कर... आहाहा! मुझे अन्य पदार्थ के साथ क्या काम है?

अरे! उन अन्य पदार्थ... ऐसी भाषा क्यों ली! इस लोक में वे-अन्य, ऐसा। उस अर्थात्। मुझसे जो अन्य ऐसे अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है? आहाहा! पंच परमेष्ठी के स्मरण से भी क्या फल है। राग है। आहाहा! मूल निज चैतन्य की कीमत की नहीं, इसलिए पर की कीमत जाती नहीं। उसका माहात्म्य नहीं आता, इसलिए परवस्तु का माहात्म्य नहीं मिटता। आहाहा! जिसे आत्मा की महिमा और महत्ता का भाव आवे, उसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी पदार्थ के प्रति महिमा नहीं आती। परमेश्वर के प्रति भी महिमा नहीं आती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मेरा परमेश्वर... आहाहा! ऐसा जो मैं आत्मा, उसे उस... उस अन्य पदार्थ समूह। उस अर्थात् अन्य पदार्थ। आहाहा! अन्य पदार्थ समूहों से क्या फल है? उससे मुझे क्या फल? यह भक्ति का अधिकार पूरा करते हैं। इसका-पर की भक्ति का भी मुझे क्या फल? ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह अधिकार पूरा हुआ।

- ११ -

निश्चय-परमावश्यक अधिकार

गाथा-१४१

अथ साम्प्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।

कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।

कर्मविनाशन-योगो निर्वृत्ति-मार्ग इति प्ररूपितः ॥१४१॥

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम् । यः खलु यथाविधि परमजिन-मार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपञ्चपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यक-कर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति ।

किञ्च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाश-हेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः ह

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,

नित्यानन्द-प्रसर-सरसे ज्ञान-तत्त्वे निलीय ।

प्राप्स्यत्युच्चै-रविचलतया निःप्रकम्प-प्रकाशां,

स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥

अब व्यवहार छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय का (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का) अधिकार कहा जाता है ।

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे।

यह कर्म-नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥

अन्वयार्थ : [यः अन्यवशः न भवति] जो अन्यवश नहीं है (अर्थात् जो जीव अन्य के वश नहीं है) [तस्य तु आवश्यकम् कर्म भणन्ति] उसे आवश्यक कर्म कहते हैं (अर्थात् उस जीव को आवश्यक कर्म है, ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं)। [कर्मविनाशनयोगः] कर्म का विनाश करनेवाला योग (-ऐसा जो यह आवश्यक कर्म) [निर्वृत्तिमार्गः] वह निर्वाण का मार्ग है [इति प्ररूपितः] ऐसा कहा है।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है, ऐसा कहा है।

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव सदैव अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है परन्तु साक्षात् स्ववश है^१ ऐसा अर्थ है, उस व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को^२ स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है, ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। और, सकल कर्म के विनाश का हेतु ऐसा जो^३ त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग, वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वाण का मार्ग है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका नामक टीका में पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(मंदाक्रांता)

“आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्ज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥”

१. 'अन्यवश नहीं है' इस कथन का 'साक्षात् स्ववश है' ऐसा अर्थ है।
२. निज आत्मा जिसका आश्रय है, ऐसा निश्चयधर्मध्यान परम आवश्यक कर्म में प्रधान है।
३. परम योग का लक्षण तीन गुप्ति द्वारा गुप्त (-अन्तर्मुख) ऐसी परम समाधि है। [परम आवश्यक कर्म ही परम योग है और परम योग, वह निर्वाण का मार्ग है।]

[श्लोकार्थः] इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप से परिणामित होता हुआ नित्य आनन्द के विस्तार से सरस (अर्थात् जो शाश्वत आनन्द के विस्तार से रसयुक्त हैं) ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलपने के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिवाले और सहजरूप से विलसित (-स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की निष्कम्प-प्रकाशवाली शोभा को प्राप्त होता है (अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कम्परूप से अत्यन्त प्रकाशित होता रहता है—जानता रहता है)।

गाथा - १४१ पर प्रवचन

निश्चय परमआवश्यक-११वाँ अधिकार। उसमें पहले ही यह लिखा है, देखो! अब व्यवहार छह आवश्यक... व्यवहार सामायिक, व्यवहार चौबीसथो, व्यवहार वन्दन, सामायिक करना, वन्दन, प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिक्रमण, काउसगग.. और प्रत्याख्यान। यह व्यवहार छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष... यहाँ तो स्पष्ट आया। छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष... आहाहा! अब वह कहते हैं या नहीं, प्रतिपक्ष यहाँ नहीं। मिथ्यात्व ही एक प्रतिपक्ष लेना। आहाहा! इसमें तीन जगह आयेगा। इस आवश्यक अधिकार में तीन जगह आयेगा। आहाहा! व्यवहार छह आवश्यक। व्यवहार सामायिक, आत्मा के भान बिना, आत्मा के ज्ञान बिना भगवान की स्तुति और भक्ति और वन्दन, कायोत्सर्ग और आत्मा के भान बिना प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष... छह आवश्यक का फल तो संसार है, राग है। आहाहा! यह सामायिक और चौबीसथो, आत्मा के भानरहित जो छह (आवश्यक) उसका फल संसार है। छह आवश्यक अनन्त बार किये हैं। आहाहा! उसके फल अनन्त बार देवरूप से प्राप्त हुए हैं। चार गति में भटकना मिटा नहीं। एक भव घटा नहीं। आहाहा! क्योंकि स्वयं छह आवश्यक भवस्वरूप है, संसारस्वरूप है। आहाहा!

व्यवहार छह आवश्यक, वह संसारस्वरूप है। राग है, वह संसारस्वरूप है। राग, वह संसार है। शास्त्र में तो शरीर को संसार कहा है। यह शरीर, वह संसार है। आहाहा! शरीर, वह संसार है तो शरीर की क्रिया से आत्मा का कल्याण हो, संसार की क्रिया से

आत्मा को कल्याण हो। शरीर को सत् में जोड़ देना, सत् क्रिया में जोड़ देना। सदाचरण। यह सदाचरण नहीं है। यह तो असदाचरण है। सदाचरण तो सत् ऐसी वस्तु भगवान् शुद्ध आनन्दस्वरूप में रमना, वह सदाचरण है। उस सदाचरण से विरुद्ध छह आवश्यक व्यवहार सदाचरण वह विरुद्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : सदाचरण को कहीं तो मैत्री कही और कहीं विरोध बताया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैत्री, वह तो है इतना बताते हैं। यह कलश में तो है, तथापि इसका अर्थ कलशकार ने दूसरा किया है। वह तो 'हेमचन्द्र' ने मैत्री किया है। यहाँ तो विरुद्ध किया है। विरोध है। अशुद्धता का टलना, वह मैत्री है। अशुद्धता का रहना, वह मैत्री नहीं। बाद के कलश में आता है न। है न ख्याल सब है। निश्चय और व्यवहार की मैत्री आता है, परन्तु वह व्यवहार की मैत्री अर्थात् अशुद्धता का त्याग, वह व्यवहार की मैत्री। आहाहा! कलश टीकाकार ने ऐसा अर्थ किया है। अशुद्धता का त्याग और शुद्धता का ग्रहण, वह मैत्री है। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों साथ रहे, इस अपेक्षा से मैत्री ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों साथ रहते हैं। एक का फल संसार है और एक का फल मुक्ति है। वीतराग न हो, तब तक दोनों साथ रहते हैं। यह कलश है न! जब तक कर्म की विरति पूर्ण न हो, तब तक ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों साथ रहती हैं। साथ रहने में विरोध नहीं है। मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन जैसे साथ में रहे, इसमें विरोध है; वैसे सम्यक्चारित्र को और राग को साथ रहने में विरोध नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। निवृत्ति नहीं मिलती और यह उपदेश घट गया। आहाहा! लोग कुछ रास्ते में अटक गये बेचारे। भवभ्रमण खड़ा रहकर भवभ्रमण में चले जानेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **व्यवहार छह आवश्यकों से...** तो विरुद्ध। **प्रतिपक्ष...** कहा न? वह ज्ञानमती कहती है, नियमसार में सार कहा वह विरुद्ध कहा, वह मिथ्यात्व का है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रिया जो व्यवहार है, वह विरुद्ध नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि छह आवश्यक भी विरुद्ध है। आहाहा! अरेरे! क्या हो? मूल जहाँ आत्मा अन्दर वस्तु। सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सर्वांग भरपूर भगवान्, उसकी अन्तर रुचि-दृष्टि

और आचरण (होवे), उस आचरण से छह आवश्यक विरुद्ध है। छह आवश्यक राग है और यह आचरण तो अराग है। स्वरूप के आचरण का स्वरूप, स्वरूप के आचरण का स्वरूप वीतरागता है और यह छह आवश्यक व्यवहार है, इनका स्वरूप राग है। आहाहा! इसलिए व्यवहार प्रतिपक्ष से, व्यवहार से वह निश्चय विरुद्ध है। तीन जगह आयेगा।

अब व्यवहार छह आवश्यकों से... आहाहा! **प्रतिपक्ष...** ऐसा तो कथन है। तो भी अपनी दृष्टि से अर्थ करते हैं। ऐसा कहे, नियम है, वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है तो उसके विरुद्ध का आचरण विरुद्ध चाहिए। उसके बदले नियम के विरुद्ध में मिथ्यात्व लिया। वह ज्ञानमती महिला है न आर्यिका, हस्तिनापुर में है, वह ऐसा अर्थ करती है। अर्थ का अनर्थ किया, ऐसा लिखती है। यहाँ ये लोग छह आवश्यक से 'नियमसार' यह सार अर्थात् निश्चय से वह विरुद्ध है, उसे सार कहा है। 'विपरीत के परिहार हेतु सार शब्द परिकथित है।' आत्मा के आश्रय बिना पराश्रय से जितना विकल्प उठे—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भगवान की भक्ति, वह सब पराश्रय है, निश्चय से विरुद्ध है। आहाहा!

व्यवहार छह आवश्यकों से... यह आचार्य स्वयं कहते हैं। देखो! 'सांप्रतं' है न? व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते। व्यवहार छह आवश्यकों से विरुद्ध ऐसे निश्चय आवश्यक का कथन करेंगे। क्या कहते हैं? आहाहा! यह तो व्यवहार करो, करते-करते होगा, व्यवहार से होगा। राग करते-करते शुद्ध होगा, आकुलता करते-करते निराकुलता होगी। आहाहा! यहाँ यह निषेध करते हैं।

स्व-आश्रय से होनेवाली दशा, वह मुक्ति का कारण और पराश्रय से होनेवाली दशा वह संसार का कारण—यह सिद्धान्त रखकर सब बात है। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसके आश्रय से होनेवाली दशा, वह मुक्ति का कारण है। इसके बिना तीन लोक के नाथ हों, उनके आश्रय से होने पर भी राग और संसार है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! दीये रखा होगा इनने। ऐसे होगा और वैसे होगा और अमुक होगा। आहाहा! मार्ग बहुत (सूक्ष्म), चैतन्य का मार्ग चैतन्य का आश्रय। संसार का मार्ग, परद्रव्य का आश्रय। आहाहा! दो सिद्धान्त पूरे। आहाहा!

अब व्यवहार छह आवश्यकों से... वर्णन यह करते हैं। **प्रतिपक्ष...** अर्थात् विरुद्ध। **शुद्धनिश्चय का (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का)...** आत्मा के आश्रय से होनेवाली

दशा। सामायिक, चौबीसंथो, वन्दन आदि। आत्मा आनन्दकन्द के आश्रय से होनेवाला आनन्द, ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द का निश्चय आवश्यक, उसका इसमें वर्णन करेंगे। छह आवश्यक व्यवहार से विरुद्ध का वर्णन करेंगे। आहाहा! कहा न? (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का) अधिकार कहा जाता है। प्रतिपक्ष का। छह आवश्यक से विरुद्ध का इसमें वर्णन करेंगे। आहाहा!

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।

कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे।

यह कर्म-नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... आहाहा! श्रीमद् में एक पत्र आता है। भाई ने कल पूछा नहीं था? चेतनजी। ऐसा कि निश्चय में से जरा व्यवहार में आवे इसलिए... एक पत्र है। वह व्यवहार आता है परन्तु वह मार्ग नहीं है। आहाहा! अन्दर स्थिर नहीं हो सकता। दृष्टि होने पर भी, अनुभव होने पर भी उपयोग उसमें रह नहीं सकता, तब उपयोग राग में-व्यवहार में आता है परन्तु उस व्यवहार में राग बन्ध का कारण है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! चिल्लाहट मचाये ऐसा है न? सामायिक और आवश्यक करते हैं न सब! लड़कियाँ लड़के सामायिक और प्रोषध और आठ-आठ उपवास चारों प्रकार के आहार का त्याग और तपस्या (करते हैं)। धूल में भी तपस्या नहीं है। लंघन है। आहाहा!

जहाँ भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य निरन्तर स्ववश है। आहाहा!उसे परवश की गन्ध उसमें नहीं है। निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है... क्या कहा? निरन्तर जो आत्मा आनन्द प्रभु, उस आनन्द के आश्रय से छह आवश्यक है। आहाहा! निरन्तर। किसी समय भी व्यवहार के आश्रय से छह आवश्यक धर्म के हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! निरन्तर... बीच में व्यवहार आवे तो भी उसका आश्रय नहीं। निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है... आत्म भगवान पूर्णानन्द का स्वभाव, उसके आश्रय से जो दशा, वह आवश्यक कर्म है, वह सामायिक कार्य है, वह चौबिसंथो का कार्य है। आहाहा! अब यह बात सुनी न हो, वह बाहर में सिरपच्ची कर डाले। आहाहा!

(इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... अन्तर पड़े बिना ज्ञानानन्दस्वभाव नित्य

और ध्रुव है, उसके आश्रय से निश्चय आवश्यक कार्य होता है। कर्म अर्थात् कार्य। निश्चय आवश्यकरूपी कर्म अर्थात् कार्य, अर्थात् मोक्ष का मार्ग। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है। व्यवहार साधन है... व्यवहार साधन है। शास्त्र में आवे, हों! ऐसा।

मुमुक्षु : दोनों को साधन कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो साध्य हुआ है, पश्चात् यह साधन का आरोप दिया जाता है। हुए बिना का साधन, अकेला साधन-फाधन है ही नहीं। आहाहा! आत्मा का अनुभव हुआ, स्थिरता हुई, पूर्ण स्थिरता नहीं है, वहाँ राग की मन्दता आवे, उसे व्यवहार साधन का आरोप दिया जाता है। आहाहा! निश्चय साधन है, उसे व्यवहार साधन का आरोप दिया जाता है। निश्चय साधन अन्तर का आश्रय जहाँ नहीं, उसे व्यवहार साधन आरोप से भी नहीं कहा जाता। आहाहा! ऐसा मार्ग! ऐसा कहा है।

(इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को... आहाहा! भगवान की भक्ति का विकल्प उठे, वह परवश है। आहाहा! सामायिक का पाठ बोलकर बैठना कि मुझे सामायिक हुई, वह सब परवश है। आहाहा! वह पराधीन राग है, संसार है। आहाहा! (इस गाथा में) निरन्तर स्ववश को निश्चय-आवश्यक-कर्म है, ऐसा कहा है। ऐसा भगवान ने कहा है, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी भावना के लिये भी यह बनाया है। आहाहा! नियमसार अपनी भावना के लिये बनाया है। भगवान ऐसा कहते हैं कि स्ववश के आश्रय आवश्यक कर्म है, ऐसा कहा है। पराश्रय जितना लक्ष्य जाता है... आहाहा! उतना बन्ध का कारण है। चाहे तो भगवान की भक्ति का स्मरण रहे, अन्दर पंच परमेष्ठी का स्मरण हो परन्तु है बन्ध का कारण। परद्रव्य के आश्रय से भाव (हो, वह) बन्ध का कारण है। स्वद्रव्य के आश्रय से भाव (हो), वह मुक्ति का कारण है। दोनों एकदम विरुद्ध हैं। आहाहा!

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव... आहा! विधि अनुसार... आत्मा की अनुकूलता में अन्दर में जाना, यह विधि के अनुसार है। आहाहा! विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल... परम जिनमार्ग-वीतरागमार्ग के आचरण में कुशल। आहाहा! ऐसा जो जीव सदैव अंतर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है... आहाहा! विधि के अनुसार, आत्मा के अनुसार, ऐसा कहते हैं। विधि अर्थात् यह। आत्मा चैतन्य आनन्दस्वरूप अनाकुल निराकुल निर्विकल्पस्वरूप है। आहाहा! उसकी

विधि के अनुसार परम जिनमार्ग में-आचरण में कुशल। आहाहा! ऐसा तो कितनों ने सुना नहीं होगा, लो! बाहर में सिरपच्ची (किया करे)। **ऐसा जो जीव...** कैसा? आत्मा की जो अन्तर में उतरने की विधि है, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जहाँ अन्तर में उतरने की, इस विधि के अनुसार।

मुमुक्षु : पहले व्यवहार लिया, फिर निश्चय लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। व्यवहार कहाँ? यह तो विधि अनुसार अन्तर लिया। व्यवहार विधि की बात ही नहीं है।

मुमुक्षु : भाई कहते हैं कि विधि का अर्थ व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। पहले अर्थ किया न? विधि के दो अर्थ होते हैं : एक विधि कर्म और एक विधि आत्मा के अनुसार। आहाहा!

विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल... यह विधि। चैतन्यमूर्ति भगवान के सन्मुख में दृष्टि, ज्ञान और चारित्र (होवे), वह उसकी विधि। आहाहा! नहीं तो शब्द में, कर्म में विधि आती है। विधि के वश पड़ा, विधि का नाश किया, ऐसा शब्द आता है। विधि अर्थात् कर्म। यहाँ वह नहीं है। यहाँ तो पहले कहा न? स्ववश को निश्चय आवश्यक कर्म है, ऐसा कहा है। पहली ही लाईन में कहा है। आहाहा! **विधि अनुसार...** वह विधि ही यह है। चैतन्य भगवान पूर्णानन्द के नाथ को अनुसरणा, यही विधि है। आहाहा! उसे अनुसरकर होना, इसका नाम विधि है। राग के अनुसार होना, इसका नाम कविधि है, अविधि है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप सब अर्थ ही अलग करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न अन्दर! यह क्या कहा? पहले से क्या कहा? कि इसमें निश्चय आवश्यक निरन्तर स्ववश को निश्चय आवश्यक है, ऐसा कहना है। आहाहा! यह भगवान आत्मा की विधि; कर्म की विधि नहीं, वह तो संसार। इसमें वह कहना नहीं है।

भगवान चैतन्यस्वरूप के दर्शन-ज्ञान-चारित्र के चैतन्यपरिणाम, यह **विधि अनुसार परमजिनमार्ग के...** मार्ग है न? यहाँ मार्ग की बात करनी है न? **परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल...** आहाहा! वीतराग में रहने को कुशल। अन्तर वीतरागीदशा में चाहे जिस प्रकार

भी रहने में चतुर-कुशल। वीतरागभाव अन्दर। कुछ किसी चीज़ की अन्दर आशा या स्पृहा या आश्रय है ही नहीं। आहाहा! विधि अनुसार परमजिनमार्ग के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव सदैव अंतर्मुखता के कारण... लो। विधि अनुसार यह। सदा ही अन्तर्मुखपना। जहाँ भगवान पूर्ण स्वरूप है - अन्तर्मुख, वहाँ सदा अन्तर्मुख दृष्टि रखकर। आहाहा! अंतर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है... वह पर के वश नहीं है।

यह आवश्यक का अधिकार है न? आहाहा! पर के वश है, वह आवश्यक नहीं। स्व के वश है, वह आवश्यक है। अवश्य कर्म होवे तो यह है। आवश्यक अर्थात् अवश्य कार्य। आवश्यक और अवश्य कार्य होवे तो इस भगवान आत्मा को अनुसरकर अन्तर में दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आना, इस विधि के अनुसार है। आहाहा! कठिन लगे। समय मिले नहीं। अभी तो निर्णय करने का समय नहीं मिलता। ध्यान पर बात आना मुश्किल पड़ती है। लोग नहीं कहते?—कि भाई! मैं कहता हूँ, उसे ध्यान में तो ले। फिर तुझे करना हो वैसा करना। तुझे करना हो, वह करना परन्तु ध्यान में तो ले। कहते हैं या नहीं ऐसा? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि तू ध्यान में तो ले। फिर उसमें रुचि करके अन्दर में जा। ऐसा भी कहीं आता है, ध्यान में ले, फिर तुझे ठीक पड़े वैसा करना। ऐसा भी आता है। दशवैकालिक की गाथा। बात ध्यान में ले, फिर कैसे करना, वह तेरी मर्जी। आहाहा!

ऐसा जो जीव सदैव अन्तर्मुखता के कारण.... आहाहा! सदा अन्तर्मुख शुद्धोपयोग। आहाहा! आत्मा की ओर का जो उपयोग, वह शुद्धोपयोग। परपदार्थ भगवान आदि परमेश्वर की ओर का उपयोग, वह अशुद्धोपयोग। आहाहा! यह सदैव अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है... परवश नहीं है। परन्तु साक्षात् स्ववश है... आहाहा! अन्तर में चैतन्यभगवान अनन्त गुण की खान है। उसका आश्रय, वह स्ववश है। आहाहा! चाहे तो फिर भगवान की भक्ति आदि विनय, वह सब परवश है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुभक्ति होवे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो वह परवश है। यहाँ पहले नहीं कहा? - कि उस परपदार्थ का मुझे क्या काम? आहाहा! अभी तो यह सब इस प्रकार फूंकते हैं। सभा भरे, मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसा करूँ। वह तो अजैनमार्ग है। आहाहा! अजैन को जैनरूप से मनाते हैं। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

अन्तर के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव। अन्तर के आचरण में कुशल ऐसा जो जीव। आहाहा! वह सदा अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है। आहाहा! उसे विकल्प नहीं है। वह परवश नहीं है। **परन्तु साक्षात् स्ववश है...** आहाहा! **ऐसा अर्थ है,...** है? अन्यवश नहीं। इस कथन का अर्थ साक्षात् स्ववश है, ऐसा। अन्यवश नहीं, इसका साक्षात् स्ववश है ऐसा अर्थ है। अन्यवश नहीं, इसका अर्थ स्ववश है। आहाहा! देव-गुरु और धर्म के वश में भी नहीं, वह स्ववश है। आहाहा! देव-गुरु के सान्निध्य में आया था न! सान्निध्य में आया था, वह तो सुनने के लिये, परन्तु होने के काल में वह लक्ष्य छोड़ देना है। आहाहा! अन्तर में स्व का आश्रय लिये बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन काल में नहीं होते। पर के आश्रय से कुछ तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह कहते हैं।

व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख... देखो! लो, आया? **व्यावहारिक क्रियाप्रपंच...** दया, दान, सामायिक, चौबीसथो वन्दना और यह सब व्यवहार, छह आवश्यक व्यवहार। व्यवहार आवश्यक क्रियाप्रपंच। वह तो क्रिया का प्रपंच है। आहाहा! है या नहीं? शान्तिभाई! कभी पढ़ा नहीं होगा यह। आहाहा! **यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को...** आहाहा! क्या यह टीका! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मैंने मेरे लिये बनाया है। इसका अर्थ - टीका करनेवाले निकले पद्मप्रभमलधारिदेव। आहाहा! वे कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये यह बनाया है। आहाहा! **व्यावहारिक क्रियाप्रपंच...** जितनी दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, भगवान का स्तवन-स्तुति यह सब क्रिया का प्रपंच है। आहाहा! भगवान का स्मरण करना, यह क्रिया का प्रपंच है। क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द से विरुद्ध भाव है, इसलिए यह क्रियाप्रपंच है। आहाहा!

व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्म-ध्यानप्रधान... आहाहा! स्व-आश्रित, देखा! आहाहा! **निज आत्मा जिसका आश्रय है, ऐसा निश्चयधर्मध्यान परम आवश्यक कर्म में प्रधान है।** आहाहा! अवश्य कार्य में वह मुख्य है। आहाहा! **पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है...** यह परम आवश्यक। अवश्य कार्य करनेयोग्य यह है। आहाहा! निश्चय की बात तो सुने, तब ऐसा लगे कि यह तो कोई एकान्त की बात है—ऐसा लोगों को लगता है। निश्चय, वह सत्य है, परमसत्य है। व्यवहार, वह आरोपित है; वह वास्तविक सत्य नहीं है। आहाहा! आहाहा!

स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है... उसे परम-जरूरी कार्य है। आहाहा! स्व-आत्माश्रित निश्चयधर्मध्यानप्रधान। जहाँ निश्चयधर्मध्यान मुख्य है, उसे परम आवश्यक कर्म है। आहाहा! ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन... आहाहा! ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण अर्थात् आत्मा। आत्मा में लीन वह परम तपस्या। अपवास-वपवास करना, वह सब लंघन है। आहाहा! है ?

निरन्तर परमतपश्चरण में लीन... कौन? कि परम आवश्यक कर्म है वह। स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान... यह परम तपस्या है। आहाहा! इसका नाम परम तपस्या। यह आत्मा के आश्रय से (होती है)। पराश्रय क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम... जरूरी कार्य। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द (होना), वह जरूरी कार्य है। आहाहा! ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन... उसे तपस्या कहा है। देखा! अपवास किया, अमुक किया, उसे तपस्या नहीं कहा। अन्तर स्वरूप में लीन, वह परमतपश्चरण है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब जगह परम क्यों लगाते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परम उत्कृष्ट तप है। वह व्यवहार नाममात्र है। नाममात्र है। यथार्थमात्र यह है। परमतपश्चरण। आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप में लीन होना, वही परम तपस्या है। वह तो नाममात्र है, परम नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अपवास करना और फिर अट्टम करना और अट्टम के पारणे पोरसी करे तो पच्चीस अपवास का लाभ हो, ऐसा सब कहते हैं। अट्टम करे और उसमें यदि पोरसी करे तो पच्चीस का लाभ होता है। आहाहा! संसार में भटकने का लाभ होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। वह यह बात परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। यह कहीं मैं कहता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! है ? व्यावहारिक क्रियाप्रपंच से पराङ्मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है, ऐसा निरन्तर परमतपश्चरण में लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। अज्ञानी किसी को आवश्यक क्रियाकाण्ड और बाहर को कहते हैं। आहाहा! परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। आहाहा!

सकल कर्म के विनाश का हेतु... पूर्ण कर्म के नाश का कारण ऐसा जो त्रिगुप्तिगुप्त-

परमसमाधिलक्षण... त्रिगुप्तिगुप्त । आहाहा ! परम योग का लक्षण तीन गुप्ति द्वारा गुप्त... नीचे अर्थ है । परम योग का लक्षण... मन-वचन-काया तीन को गुप्त । उनकी ओर का झुकाव छोड़कर तीन गुप्ति द्वारा गुप्त (-अन्तर्मुख) ऐसी परम समाधि है । [परम आवश्यक कर्म ही परम योग है और परम योग, वह निर्वाण का मार्ग है ।] नीचे अर्थ है । आहाहा ! त्रिगुप्तिगुप्त... अर्थात् मन-वचन-काया तीन ओर से गुप्त । तीनों की क्रिया, वह नहीं । मन की क्रिया नहीं, वाणी की नहीं, देह की नहीं । आहाहा ! वह परमजिनयोगीश्वर उसे कहते हैं ।

और, सकल कर्म के विनाश का हेतु ऐसा जो त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग... त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग... आहाहा ! अन्तर योग का लक्षण क्या ? आत्मा में अन्तरयोग आनन्द में एकाग्र होना, उसका लक्षण क्या ? कि त्रिगुप्तिगुप्त - परमसमाधिलक्षण, वह उसका लक्षण है । आहाहा ! मन, वाणी और देह तीन से छूटकर उनके झुकाववाली क्रिया से भी छूटकर आत्मा के स्वरूप में परमसमाधि त्रिगुप्तिगुप्तसहित, उसे यहाँ परमयोग कहा जाता है । परमयोग - परमव्यापार । आहाहा ! परमयोगी । योग में योग जुड़े, वह परमयोगी । आहाहा !

वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से... आहाहा ! वही साक्षात् अन्तर में एकाग्रता । मन-वचन-काया की क्रिया से छूटकर अन्तर में गुप्त हो जाना । आहाहा ! वही एक मोक्ष का कारण होने से साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वाण का मार्ग है । ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है । ऊपर कहा न ? 'पिञ्जुतो' 'णिव्वुदिमग्गो त्ति पिञ्जुतो' कहा था न ? चौथा पद है न, उसका अर्थ किया । व्युत्पत्ति का अर्थ ऐसा है । 'पिञ्जुतो' व्युत्पत्ति का अर्थ ऐसा है कि स्ववश में लीन होना, इसका नाम व्युत्पत्ति है । दूसरी व्युत्पत्ति लगाकर पर और व्यवहार से ऐसा होता है, वैसा होता है, यह व्युत्पत्ति नहीं है । आहाहा ! ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है । विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)